''मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल के आईने में भारतीय समाज''

(दुष्यंतोत्तर ग़ज़ल के संदर्भ में)

डॉ. अर्जुन चव्हाण

प्रोफेसर एवं पूर्वअध्यक्ष, हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महाराष्ट्र)

सारांश

आजादी की प्राप्ति तक उर्दू, हिंदुस्तानी ग़ज़ल का दायरा हुस्नो-शबाब, जामो-मीन और महबूब के नाज-नखरे तक ही महदूद नहीं रहा, बल्कि उसने अपने कौम की सियासत, आम आदमी की पीड़ा, सामाजिक और आर्थिक विरूपताओं/कुरूपताओं को भी घेर लिया । इसमें मीर, फैज अहमद 'फैज', 'जोश' मलीहाबादी, मजाज लखनवी, जानीसार अख्तर, साहिर लुधियानवी, अली सरदास जाफरी, 'मजरूह' सुल्तानपुरी, कैफी आज़मी, निदा फाजली, शहरयार, जावेद 'अख्तर' और 'साज' जबलपुरी आदि का योगदान काबिले तारीफ मानना होगा । किंतु दुष्यंतकुमार ने 'साये में धूप' के जरिए ग़ज़ल को शौहरत की बुलंदी पर पहुँचा दिया । दुष्यंतकुमार के आगमन से हिंदी ग़ज़ल के स्रोत ने नदी का रूप धारण किया । गज़ल के क्षेत्र में जिस क्रांतिधर्मिता, यथार्थता, विद्रोहात्मकता और व्यवस्था के प्रति आक्रोशात्मकता की नींव दुष्यंतजी ने रखी, वर्तमान मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार उसका निर्वाह बहुत सिद्धत और ईमानदारी से करते रहे हैं । मुस्लिम ग़ज़लकारों ने भारतीय समाज की जो कृष्ण-धवल तस्वीर हिंदी ग़ज़ल में खिंची है उसी का मूल्यांकन प्रस्तुत शोधपत्र का प्रमुख प्रयोजन है ।

पृष्ठभूमि –

हिंदी ग़ज़ल अब शौहरत की बुलंदी पर है, इसका कौन इनकार करेगा ? हाँ, हिंदी ग़ज़ल का इतिहास फारसी और उर्दू ग़ज़ल जितना समृद्ध भले ही न हो किंतु है वह गौरवशाली ही । असल में हिंदुस्तान का ग़ज़ल साहित्य अपनी समृद्ध परंपरा का परिचायक मानना होगा । ग़ज़ल आरंभ में अरबी-फारसी में लिखी गई परंतु जनता की सर-आँखों पर तो वह बोलचाल की भाषा से बैठ गई । ग़ज़ल के क्षेत्र में ग़ालिब का नाम कौन नहीं जानता ? ग़ज़ल के शहनशाह ग़ालिब को जो शौहरत हासिल हुई वह फारसी कलाम की अपेक्षा उर्दू ग़ज़ल से ही । यह सही है कि ग़ालिब, मीर कासिम और फैज अहमद 'फैज' के जमाने में ग़ज़ल का दायरा इश्क-मुहोब्बत, हुस्न-शबाब, महबूब-महबूबा, माशुक-माशुका से लबालब था । लेकिन मानना पड़ेगा कि सामयिक और सामाजिक सरोकार के साथ उसका नाता दिनोंदिन पुख्ता बनता गया । सियासत की महरूम शकल और शहनशाह की बौनी अकल ग़ज़लगो का ध्यान अपनी ओर न खिंचती तो ही ताज्जुब । इनके स्वभाव, प्रभाव और समय के दबाव के परिणामस्वरूप आधुनिक कालीन हिंदी कवियों ने ग़ज़ल विधा को अपनाया । भारतेंदु, 'हरिऔध', प्रसाद, द्विवेदी, निराला और हरिकृष्ण प्रेम से लेकर नीरज, रामदरश मिश्र और रामअवतार त्यागी तक और त्रिलोचन, शमशेर, चंद्रसेन विराट, कुँवर बेचैन, आदम गौंडवी, उर्मिलेश और बालस्वरूप राही तक ने हिंदी ग़ज़ल को स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई । उसमें समसामयिक समस्याओं, विद्रुपताओं और विरूपताओं रूपी अनेक स्रोत आकर मिले । इससे दुष्यंतोत्तर हिंदी ग़ज़ल रूपी नदी में मानो बाड़-सी आ गई । वर्तमान काल में हिंदी ग़ज़ल के क्षेत्र में योगदान करनेवाले ग़ज़लगो दर्जनों नहीं बल्कि सैंकडों की संख्या में नजर आयेंगे ।

हिंदुस्तानी ग़ज़ल के कुछ तथ्य –

ग़ज़ल साहित्य की इस परंपरा से कई तथ्यों का उद्घाटन होता है, जैसे-

1 हिंदुस्तान में ग़ज़ल साहित्य की परंपरा गौरवशाली है ।

2 यहाँ पर ग़ज़लगो शुरू में आरबी–फारसी में, फिर उर्दू में, उसके बाद हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में पहुँच गए हैं ।

3 फारसी कलाम और उर्दू ग़ज़ल के लगभग सभी ग़ज़लगो मुस्लिम रहे हैं ।

4 प्रारंभिक दौर की ग़ज़ल का केंद्रीय भाव शृंगार रहा है ।

5 सब ने इश्क–मुहोब्बत संबंधी ग़ज़लें लिखी हैं ।

6 सब ने माशुक–माशुका, महबूब–महबूबा केंद्रित ग़ज़लें लिखी हैं ।

7 इसमें बोलचाल की भाषा का प्रयोग खूब किया है।

8 इसमें संगीतात्मकता, लयात्मकता तथा गेयता का खास ध्यान रखा गया है ।

9 इससे यह विधा अधिक लोकप्रिय बन गई है ।

10 इसके प्रभावस्वरूप अनेक भारतीय भाषाओं में ग़ज़ल विधा साहित्य की नई विधा के रूप में प्रारंभ हुई है ।

11 ग़ज़ल की इस परंपरा ने अपना प्रभाव हिंदी ग़ज़ल पर भी छोड़ दिया है ।

12 हिंदी ग़ज़ल के विकास में मुस्लिम ग़ज़लगो का योगदान महत्त्वपूर्ण मानना होगा ।

हिंदी ग़ज़लगो का वर्गीकरण –

आधुनिक हिंदी ग़ज़ल का इतिहास सौ साल से अधिक पुराना नहीं है । फिर भले ही ग़ज़ल के अध्येता, इसकी परंपरा को अमीर खुसरो और कबीर, तुलसी से होते हुए आधुनिक काल तक क्यों न ले आते हो, उसे आदिकालीन विधा क्यों न सिद्ध करते हो । सच तो यह कि हिंदी ग़ज़ल भारतेंदु, प्रसाद और निराला के काल में अपनी शैशव अवस्था का परिचय देती है और स्वातंत्र्योत्तर काल अर्थात दुष्यंत के काल में अपनी युवावस्था का । उसके कड़े तेवर का परिचय भी मिलता है किंतु दुष्यंतोत्तर काल में ही । इसका मूल कारण है हिंदी ग़ज़ल के क्षेत्र में दुष्यंतकुमार का आगमन । जैसे–

'हो गई है पीर पर्वत–सी पिघलनी चाहिए,
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए ।
मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए।''[1]

इससे हिंदी ग़ज़लगो के सम्मुख यह आदर्श और मानक प्रस्तुत हुआ कि आनेवाली पीढ़ी के लिए ग़ज़ल के विषय कौनसे होंगे ।

जीवन–यथार्थ एवं युगीन संदर्भों को केंद्र में लाने का दायित्व दुष्यंतोत्तर हिंदी ग़ज़लकारों ने बखूबी निभाया । समकालीन हिंदी ग़ज़लकारों की पीढ़ी को दो भागों में विभाजित कर उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है –

1 मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार ।

2 मुस्लिमेतर (गैर मुस्लिम) हिंदी ग़ज़लकार ।

दुष्यंतोत्तर मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार –

वस्तुत: दुष्यंतकुमार का जीवन काल 1 सितंबर 1933, से 30 दिसंबर, 1975 तक रहा । किंतु ग़ज़लकार के रूप में दुष्यंत जी का उदय स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद ही हुआ । दिसंबर 1975 तक वे लिखते रहे । उनके निधन के बाद अर्थात् 30 दिसंबर, 1975 के बाद का समय दुष्यंतोत्तर कालीन ग़ज़ल का युग माना जाता है । .

दुष्यंतोत्तर युगीन मुस्लिम ग़ज़लकारों में प्रमुख ग़ज़लकार हैं– अखलाक 'सागरी' अहमद खान, इंतेजार 'गाजीपुरी' अहमद, कमर 'बतर' (कमरउद्दीन सिद्दीकी), रसूल अहमद 'सागर' बकाई, जलाल अहमदखाँ तनवीर, मुनव्वर अली 'ताज', सलीम अख्तर, जहीर कुरैशी, 'मासूम' गाजियाबादी, सय्यद मकबूल अली, कमर खाँ 'वहम', अयूब शाहिदी, सुल्तान अहमद, इरशाद अहमद सिद्दीकी, आलम खुरशीद, अजरा 'नूर' खान, खालिद हुसैन सिद्दीकी, शकील जमाली, नईम 'साहिल' मस्तहसन 'अज्म' आदि ।

इन सभी मुस्लिम ग़ज़लकारों ने भारतीय समाज की जो तस्वीर हिंदी ग़ज़ल में खिंची है उसको निम्नांकित बिंदुओं में प्रस्तु करते हैं–

मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल के आईने में भारतीय समाज –

माँ–बाप की उपेक्षा –

जिन्होंने पाला–पोसा, बढ़ा किया उन्हीं को अब बच्चे लताड़ रहे हैं । माँ–बाप की इस उपेक्षा के प्रमाण हैं यहाँ के हर शहर में बढ़ते रहे वृद्धाश्रम । अखलाक 'सागरी' इसी स्थिति का दारूण यथार्थ इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं –

''कलयुग भी कितनी उल्टी गंगा बहा रहा है
माता–पिता को श्रवण ठोकर लगा रहा है ।''[2]

भारतीय समाज में माँ–बाप के साथ संतान के बदलते रिश्ते का इसमें पर्दाफाश किया है । बेटे द्वारा माता–पिता की प्रताड़ना को अंकित कर हिंदी ग़ज़लकार भारतीय समाज का दारूण सच प्रस्तुत कर रहा है ।

विषमता का चित्रण –

वर्तमान काल में अब कृष्ण और सुदामा के मित्रता की मिसाल नहीं मिलती । क्योंकि इस समाज का कडुआ सच यह है कि यहाँ पर धनिक लोग ही निर्धनों का शोषण करते हैं । यहाँ बराबरी के लोगों में ही दोस्ताना हुआ करता है । समाज में वर्ग वैषम्य खत्म होने का नाम नहीं लेता है । इसीलिए धनिक–निर्धन के बीच, अमीर–गरीब के बीच सख्य, सद्भाव, सौहार्द और सौमनस्य दिखाई नहीं देता । अखलाक 'सागरी' के शब्दों में –

''अब कृष्ण से सुदामा की मित्रता हो कैसे
धनवान तो निर्धन को कच्चा चबा रहा है ।''[3]

विषमता के कारण चंद लोग, मुठ्ठीभर लोग ईश्वर के अवतार की तरह विहार करते हैं किंतु अधिकांश लोग पिसते जा रहे हैं । उनकी हालत मुजरिम जैसी हो गई है । अखलाक 'सागरी' लिखते हैं –

''दुनिया में चंद लोग हैं अवतार की तरह
बाकी तो पिस रहे हैं गुनहगार की तरह ।''[4]

अमीरों द्वारा यहाँ गरीबों का शोषण हो रहा है । धनिक निर्धनों के श्रम का शोषण कर रहे हैं और ऊपर उसे खाना खिलाकर अपने अहसान को भी जताते हैं । अखलाक 'सागरी' के शब्द हैं–

''धनवान निर्धनों का लहू चूस–चूस कर
रोटी भी दे रहे हैं तो उपकार की तरह ।''[5]

स्पष्ट है कि शोषण और विषमता का दारूण सच हिंदी ग़ज़ल साहित्य में बार–बार, लगातार अंकित हो रहा है।

सामाजिक बेरहमी, नकली दोस्ती और रिश्तेदारी का चित्रण –

वर्तमान भारतीय समाज से दया, क्षमा, करुणा और अहिंसा जैसे मूल्य गायब होते जा रहे हैं । आदमी पत्थर दिल बना है । वह आँखों पर पट्टी बाँधकर अपनी बेरहमी का परिचय दे रहा है । 'इन्तेजार' गाज़ीपुरी इस सच्चाई का अंकन इन शब्दों में करते हैं–

''दिल भी पत्थर सीना पत्थर आँख पे पट्टी रक्खी है
किसने यह पानी से बाहर रेत पे मछली रक्खी है ।''[6]

वर्तमान समय में ऐसे लोग भी कम नहीं मिलते, जो दोस्ती के साथ दुश्मनी भी निभाते हैं । गाज़ीपुरी की मान्यता है –

''यूँ दुश्मनी भी चलती है अब दोस्ती के साथ
जैसे अंधेरा रहता है हर रोशनी के साथ ।''[7]

दोस्ती और दुश्मनी का साथ–साथ चलना भारतीय समाज का कटु सच है जिसे हिंदी ग़ज़ल ने बेबाकी से रेखांकित किया है ।

भारतीय समाज में ऐसे लोगों की कमी नहीं जो अपने कहे हुए के अनुसार आचरण नहीं करते । कहना एक और करना अलग, वादा करना किंतु निभाना नहीं जैसी बातें दिनों–दिन आम होती जा रही हैं । अपने वचन या वादे से मुकर जाना भी आज–कल अति सामान्य हो गया है । ऐसे लोगों का चित्रण भी हिंदी ग़ज़ल का विषय बन गया है । साहिल जी ने सही फर्माया है–

''भरोसा वो कैसे करें खुद का कहिए
जो वादों से अपने मुकरते रहे हैं ।''[8]

अपने रिश्ते–नाते के लोग भी अब भरोसेमंद नहीं रहे । कब साजिश करेंगे कह नहीं सकते । पहले पराये लोगों की साजिश से नुकसान हुआ करता था किंतु उसे निपटाया जा सकता था, लेकिन अब अपनों की साजिश से बचना आसान नहीं रहा । शकील जमाली सही फर्माते हैं–

''रिश्ते की दलदल से कैसे निकलेंगे
हर साजिश के पीछे अपने निकलेंगे ।''[9]

सामाजिक बेरहमी, नकली दोस्ती और रिश्तेदारी आदि की बदौलत वर्तमान भारतीय जन सामान्य की जिंदगी हादसे से भरी है । ताज्जुब तब होता है कि जब कभी कोई दिन बिना हादसे के बीत जाता हो । बकौल मुस्तहसन 'अज़्म'

'' 'अज़्म' वो हादसा है मेरे लिए
जब कोई हादसा नहीं होता ।''[10]

इस प्रकार विवेच्य हिंदी ग़ज़लकार अब अपनी ग़ज़ल में समाज, दोस्त और रिश्ते-नाते के लोगों का यथार्थ परिचय दे रहा है ।

सामाजिक/धार्मिक आडंबर पर प्रहार –

भारतीय समाज की यह विडंबना है कि यहाँ पाप प्रक्षालन के प्रबंध पहले से मौजूद हैं । कोई चाहे जितना पाप करे तीर्थ करेगा, या गंगास्नान करेगा तो उसे अपने पाप से तुरंत मुक्ति मिल जाती है । गंगास्नान भी हमारे आडंबर को ही उजागर करता है । कमर 'बतर' के शब्दों में –

''जिस्म को धोने का गंगा में फकत ढोंग किया
मन ये कहता है कि क्या आत्मा धो ली हमने ।''[11]

धार्मिक स्थलों ने लोगों को संगठन की अपेक्षा विघटन का रास्ता दिखाया है । मंदिर-मस्जिद, काबा-कैलास, ये सब स्थल फूट डालनेवाले सिद्ध हुए हैं । धार्मिक स्थानों ने हमें आपस में विखंडन तथा विघटन की स्थिति में झोक दिया है । कमर 'बतर' ने इसे इस प्रकार अंकित किया है –

''मेरे लिए तो दोनों में कोई नहीं है फर्क
काबा लिए हो तुम, वो शिवाला लिए हुए ।''[12]

वर्तमान समय में धर्म के नाम पर मानव-मानव के बीच लगाव की अपेक्षा अलगाव ही लक्षित हो रहा है । रसूल अहमद 'सागर' बकाई धार्मिक अलगाव की पीड़ा इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं –

''मिलन के नाम पर त्यौहार और उत्सव नहीं होते
सभी धर्मों के सम्मेलन का अब मेला नहीं लगता।''[13]

यहाँ लगाव की अपेक्षा बढ़ते जा रहे अलगाव को अभिव्यक्त किया है ।

बदलाव के बदरंगी यथार्थ का अंकन –

हमारे समाज और राष्ट्र में स्थितियाँ कुछ ऐसी पैदा हो रही हैं, जिन्हें देखकर लगता नहीं कि यह वतन हमारा भी है । शक, संदेह, वैमनस्य, धोखाधड़ी आदि की बदौलत मुस्लिम ग़ज़लकार की इस वतन को लेकर जो धारणा थी, उसमें बदलाव नजर आता है । रसूल अहमद 'सागर' बकाई के शब्दों में –

'हमें अपने वतन में आजकल अच्छा नहीं लगता
हमारा देश जैसा था हमें वैसा नहीं लगता ।''[14]

यह सही है कि शक और संदेह ने निजी जिंदगी में भी अपना प्रभाव छोड़ दिया है । धोखा, अविश्वास अब बाहर ही नहीं, बल्कि अपने परिवार में भी बसेरा कर रहे हैं । रसूल अहमद 'सागर' बकाई इस यथार्थ को इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं –

''दिया विश्वास ने धोखा भरोसा घात कर बैठा
हमारा खून भी 'सागर' हमें अपना नहीं लगता ।''[15]

अर्थात् जहाँ बिरादरीवाले भी धोखा देने में पीछे नहीं रहते, वहाँ मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार के पीड़ा की कोई सीमा नहीं रहती । अपनी इस पीड़ा का दारूण यथार्थ भी उसकी ग़ज़ल का विषय बन जाता है ।

समाज में जो लोग मिल रहे हैं उनमें इन्सानियत गायब होती जा रही है । इसीलिए मानव समाज की बस्तियाँ भी अब जंगल लगने लगी हैं । मानव मानव के बीच सद्भाव न रहने से अजनबीपन बढ़ता जा रहा है । परिणामत: मानव समाज की बस्तियाँ भी जंगल जैसी डरावनी लगने लगी हैं । ग़ज़लकार अब्दुल कलाम सही लिखते हैं-

''इंसां के डर से इंसान क्या खौफ़ज़दा है
बस्तियाँ भी लग रही हैं बियाबान की तरह ।''[16]

भ्रष्टाचार भारतीय समाज जीवन का अभिन्न अंग बन गया । यहाँ बोफोर्स, चारा, हवाला, कोयला जैसे अनेक घपले तथा घोटाले हुए किंतु हिंदी ग़ज़लकार को इससे ग़ज़ल लेखन के लिए नये-नये विषय भी मिले । भ्रष्ट राजनीति और भ्रष्ट समाज व्यवस्था ने

भ्रष्टाचार को जीवन का अनिवार्य अंग बना दिया । जहीर कुरैशी के शब्दों में –

''उनको 'सुविधा–शुल्क' का धन भी हवाला से मिला,
पिछले दरवाजे से भ्रष्टाचार में शामिल हुए ।''[17]

स्पष्ट है कि विवेच्य हिंदी ग़ज़ल बदलाव के बदरंगी यथार्थ को प्रस्तुत कर रही है ।

बेजान बनी मानवता का अंकन –

आज मानवता बेजान बन गई है । इन्सान इन्सान के साथ अमानवीय व्यवहार कर रहा है । एक तरफ इन्सानियत के ढोल पिटना और दूसरी तरफ निर्ममता से पेश आना, वर्तमान समाज जीवन का अभिन्न अंग बन गया है । मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार इस दुखती रग पर ही उंगली रखता है । जलाल अहमद खाँ 'तनवीर' बेबाकी से लिखते हैं–

'क्यों पीटते हो ढोल इन्सानियत का आज
मानवता आज हो गई निष्प्राण चुप रहे ।''[18]

ग़ज़लगो की मान्यता है कि आज आदमी बहुरूपी जैसा लग रहा है । वह विविध रूपों में पेश आ रहा है । वह इन्सान है मगर इन्सानियत उससे गायब हो रही है । 'तनवीर' जी की यह मान्यता द्रष्टव्य है –

''आदमी के तो नजर आते बहुत से रूप हैं
पर न उनमें आदमीयत का सलीका आजकल ।''[19]

बहुरूपी बनते जा रहे आदमी के असली रूप का इजहार मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल का प्रमुख स्वर बनता जा रहा है ।

सामाजिक व्यथा–वेदना और अभाव का चित्रण–

वर्तमान समय सामाजिक दृष्टि से चिंतन का है और चिंता का भी । इसलिए कि समाज में चारोओर व्यथा और वेदना व्याप्त है । सारा माहौल वेदनादायी, पीड़ादायी है । फलत: कम–अधिक मात्रा में सब की शकल से यह वेदना झलक रही है, व्यथा टपक रही है । बाहरी चमकदमक भले ही हो, भीतर से हर कोई दुखी है । यह दुख और दर्द ही वर्तमान समय की देन है । जलालअहमद खाँ 'तनवीर' सही फरमाते हैं –

''रो रहा हर एक रोना जिंदगी का आजकल
आँसुओं से तर यहाँ, चेहरा सभी का आजकल।''[20]

इस प्रकार मानव जीवन की पीड़ा और दर्द को समान रूप में पाना और उसे अपनी ग़ज़ल का विषय बनाना वर्तमान मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल का अभिन्न अंग बन गया है ।

समाज में निर्धनता, गरीबी तथा भूखमरी जैसी समस्याएँ आज भी बनी रही हैं । मासूम बच्चों की ख्वाहिश पूरी न कर पाना वेदनादायी है किंतु यदि कोई बाप उसकी पूर्ति करता हो भी तो उसके नाक में दम आये बिना नहीं रहता । इस निर्धन जिंदगी की बेबसी को अयूब शाहिदी अल्फाज देते हैं–

''ला ही देता है खिलौना, काट कर पेट अपना बाप
सोचिए कितनी कशिश बच्चे की फरमाइश में है।''[21]

वर्तमान समाज में अभावग्रस्त जीवन की कहीं कोई कमी नहीं । विषमता की कोई सीमा नहीं । अत: जिंदगी की बुनियादी जरूरतों को पूरा करना भी मुमकिन नहीं होता । रोटी, कपड़ा, मकान पाने में भी जिंदगी भर सवालों से जूझना पड़ रहा है । बकौल शकील जमाली –

''मुझे खयाल तो आता है घर बसाने का
सवाल ये है कि पैसा कहाँ से आएगा ।''[22]

अभाव ग्रस्त जिंदगी का बेबाक चित्रण विवेच्य हिंदी ग़ज़ल का अहम हिस्सा बना है । हमारे समाज में विषमता इतनी ग़ज़ब की मिलती है कि एक के नसीब महल तो दूसरे के नसीब सड़क । खालिद हुसैन सिद्दीकी के शब्दों में –

''तुम न सो पाए महल में एक दिन भी चैन से
और हमने काट ली सड़कों पे पूरी जिंदगी ।''[23]

समाज ऐसी अजीब अभावग्रस्तता से भरा पड़ा है कि जिसे पाँव रखने के लिए जमीन है उसके सर पर छत नहीं और जिसे छत मिली उसे जमीन नहीं । इस अभाव से भरे और विषमता के मारे जन जीवन को गुलशन मदान इस अंदाज में प्रस्तुत करते हैं –

''मुद्दतों से है यह सफ़र मेरा

वक्त हूँ मैं, कहाँ है घर मेरा
. . . . . .
अपने हिस्से की मिल गई है जमीं
खो गया आस्माँ मगर मेरा ।''[24]

इस तरह मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार वर्तमान कालीन भारतीय समाज की अभावग्रस्तता, व्यथा और वेदना को वाणी दे रहा है । उसकी ग़ज़ल इन सब का सहज रूप से चित्रण कर रही है ।

छोटे लोग बड़े पदों पर विराजमान होने का यथार्थ –

अपात्र और अयोग्य लोगों का सुयोग्य पदों पर विराजमान होना तथा पात्र और योग्यता धारियों को किनारे किए जाना वर्तमान समय का दारूण सच है । जब लायक को नालायक करार देकर नालायक के सर पर सत्ता का सेहरा पहनाया जाता है तब समाज की दुर्गति अटल होती है । इससे समाज और राष्ट्र का भी नुकसान होता है । इस देश का सारा वातावरण इसी कारण जहरीला बना है । 'तनवीर' के ही शब्दों में–

''विषैला हो गया वातावरण अब
सियासत डँस रही है नाग बन के ।''[25]

ऐसी हालत में आंकडों में ही हमारी प्रगति कैद रहती है। यह हमारी महज कागजी तरक्की है । 'तनवीर' साहब लिखते हैं –

''न पूछो आँकड़ें उपलब्धियों के
सुरक्षित फाइलों में प्रतिशत है ।''[26]

ऐसी अयोग्य, अपात्र और नालायक लोगों की फौज बढ़ती जा रही है । इन्हें जमीनी सच से कोई लेना देना नहीं । किंतु हवाई बातें करने में, बढ़बोलेपन में ये आगे रहते हैं । इनका कच्चा–चिट्टा खोलने का काम 'तनवीर' जी ने इन शब्दों में किया है–

''जमीं पर ढंग से जीने का न आया
चले हैं तोड़ने तारे गगन के ।''[27]

कहना जरूरी नहीं कि हिंदी ग़ज़लकार अब बड़े पदों पर आसीन छोटे लोगों की औकात का बेबाक अंकन कर रहा है ।

कौम के लिए अमन का पैगाम देने की हिमायत–

वर्तमान मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार निश्चय ही अपने सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व का निर्वाह भी ईमानदारी से कर रहा है । वह चाहता है कि हमारे देश और समाज में अमन और चैन बरकरार रहे । उसके अरमान कौमी एकता की चाहत को उजागर करते हैं । सामाजिक सौमनस्य बनाये रखने के लिए ये ग़ज़लगो सांप्रदायिक सद्भाव की हिमायत भी करते हैं । मुनव्वर अली 'ताज' फरमाते हैं –

''इस तरह हिंदोस्ताँ को अमन का पैगाम दो
हिंदुओं को दो खुदा और मुस्लिमों को राम दो ।''[28]

हिंदू–मुस्लिम एकता की बुनियाद पर कौम में अमन और शांति का माहौल बन सकता है । हिंदी ग़ज़ल का यह प्रमुख स्वर बनता जा रहा है ।

जीवन–दर्शन का उद्घाटन –

वर्तमान कालीन मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार न केवल अपने समय के यथार्थ से परिचय करा देता है बल्कि वह अपनी ग़ज़ल के जरिए जीवन–दर्शन को भी रेखांकित करता है । उसकी मान्यता है कि जिंदगी ऐसे सवालों से भरी है, जिनका शायद ही कोई हल हो । दुख क्या होता ? उसे कैसे जाना जाता है ? आदि के बारे में भी ग़ज़लगो का अपना दर्शन है, जिसे स्थान–स्थान पर अभिव्यक्ति मिली है । मुनव्वर अली 'ताज' साहब के शब्दों में –

''कैसा है, क्या है, क्यों है सवालों हल नहीं
गम को समझना दोस्तों इतना सरल नहीं ।''[29]

आदमी के जिस्म को लेकर भी मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार की अपनी मान्यता है । जिस्म संबंधी दर्शन को मुनव्वर अली 'ताज' के इन शब्दों में हम देख सकते हैं –

''ये जिस्म जिंदगानी की ऐसी सराय है
जिसमें बिना किराया ठहरता है आदमी ।''[30]

आदमी कब सुधर सकता है इस पर भी मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार का अपना चिंतन प्रस्तुत है । उसकी सृष्टि से आदमी को सुधारने के लिए एकमात्र तंत्र है, जैसे–

''पहले बनना पड़ता है मुंसिफ़ जमीर को

तब जाके अपने आप सुधरता है आदमी ।''[31]

इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार जीवन-दर्शन का भी उद्घाटन करने लगा है । अगर आदमी भीतर से चाहता है तो बहुत कुछ कर सकता है । करनेवाले के सामने सारी दुनिया के काम पड़े हैं । हाँ, यह उसकी दिली इच्छा हो तब सब संभव होगा । अजरा 'नूर' अपनी ग़ज़ल में कुछ ऐसा ही जीवन दर्शन प्रस्तुत करती है, जैसे-

''ख्वाहिश हो तो काम बहुत हैं
जीवन के पैगाम बहुत हैं ।''[32]

सच्चाई को चाहनेवाले हमेशा मुसीबत में फँस जाते हैं । सत्य के पक्षधर को सदा जालसाजी का शिकार होना पड़ता है । इल्जाम उन्हीं के ऊपर आता है जो सच्चाई को बता देते हैं । अज़रा 'नूर' सही फर्माती हैं-

''सच कहने की आदत जिसको
उसके सर इल्जाम बहुत हैं ।''[33]

'जीवन में सच का खामियाजा भुगतना पड़ता है' जैसा तथ्य भी जीवन दर्शन बनकर सामने आता है । वस्तुत: आदमी को अपना रास्ता खुद ही तय करना पड़ता है । रेत का रास्ता टिकाऊ नहीं होता अर्थात् दूसरों के भरोसे अपनी लड़ाई हम जीत नहीं सकते । बकौल मुस्तहसन 'अज्म' -

''राह अपनी तू खुद ही तय कर
रेत पर रास्ता नहीं होता ।''[34]

कहना जरूरी नहीं कि वर्तमान विवेच्य ग़ज़लकार कुछ ऐसे तथ्य ग़ज़ल के जरिए प्रस्तुत कर रहा है जिसमें जीवन-दर्शन समाया हुआ है । इससे जिंदगी की कामयाबी का सबक मिलता है और उसका अंदाज भी।

गंगा को गंदा करनेवाले भारतीय समाज पर प्रहार-

भारतीय समाज का कटु सच है कि उसने गंगा मैया जैसी पवित्र नदी को भी दूषित किया, प्रदूषित किया । यहाँ ऐसा समाज है जो गंगा को गंदा करता है और धर्म को धंधा बनाता है । हमारे आसपास चोर और मक्कार रह रहे हैं । ऐसे लोगों के साहचर्य ने गंगा को मलिन कर दिया है । इनके निरंतर संपर्क ने गंगा की गरिमा और महिमा को धूमिल कर दिया है । ऐसी हालत में मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार चिंतित है कि अब जाने इस गंगा का क्या होगा । सलीम अख्तर के शब्द हैं-

''चेहरा-चेहरा है मक्कारी, गंगा तेरा क्या होगा ?
पत्थर हल्के, फूल हैं भारी, गंगा तेरा क्या होगा?''[35]

असल में गंगा हमेशा सब के पाप धुलवाने का काम करती आई है । फिर चाहे लोभी हो या लंपट, कामी हो या कुकर्मी- सब के पापों का हरण गंगा को ही करना पड़ा है । किंतु इन सब से ज्यादा घोर पाप कर्म करनेवाले खद्दरधारी अर्थात् नेता अगर गंगा में डूबकी लगाने आयेंगे तो जाने गंगा का क्या होगा । सलीम अख्तर की यह चिंता इन शब्दों में व्यक्त होती है-

''लोभी-लम्पट, कामी-पापी, तूने सबके पाप हरे
जब आयेंगे खद्दरधारी, गंगा तेरा क्या होगा ?''[36]

स्पष्ट है कि खद्दरधारी समाज अर्थात् राजनयिक लोगों के कुकर्मों ने गंगा को सब से ज्यादा नुकसान पहुँचा दिया है । उसके चलते गंगा का क्या हस्र होगा, ग़ज़लकार की चिंता का विषय यही है ।

पराधीन, अंतर्विरोधी समाज एवं वोटों की राजनीति का इज़हार -

आजादी के सात दशक ने भारतीय समाज में स्थित जनसामान्य की दशा को बखूबी पेश किया । आजाद देश के सामान्य नागरिक की जिंदगी में क्या कुछ बदलाव आया? क्या उसे अपने को बयान करने की आजादी है? क्या वह अपनी पीड़ा का इज़हार कर पाता है? मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार के चिंतन में इन सवालों के जवाब भी मिलते हैं । स्वाधीन देश के पराधीन समाज की पीड़ा का उद्घाटन जहीर कुरैशी के शब्दों में देखिए -

''चीखने की भी यहाँ पंछी को आजादी नहीं
चाकुओं के हाथ में अपने कटे 'पर' देख कर ।''[37]

यहाँ एक ओर चुप रहने को अभिशप्त व्यक्ति की व्यथा को वाणी मिली है किंतु दूसरी ओर भारतीय

समाज में पनपते जा रहे, अंतर्विरोधी मानसिकता में जीनेवाले लोगों को भी प्रस्तुति मिली है । जहीर कुरैशी का अंदाज-ए-बयान है-

''चाहते हैं फ़सल आमों की
नीम-फल बोए हुए ये लोग ।''[38]

भारतीय समाज में ऐसे लोगों की अब कमी नहीं जिनकी जिंदगी अंतर्विरोध से भरी पड़ी है । वर्तमान हिंदी ग़ज़लकार इसे बखूब जानता है । उसकी ग़ज़ल इस सच को रेखांकित करती है । बकौल जहीर कुरैशी-

''ओढ़ लेते हैं सुबह मुस्कान
रात भर रोए हुए ये लोग ।''[39]

यहाँ भारतीय समाज का कडुआ सच जितनी सहजता से अंकित है उतनी ही सहजता से यहाँ की वोटों की राजनीति भी प्रस्तुत है । जहीर कुरैशी लिखते हैं-

''इस 'राजनीति' द्वारा महज वोट के लिए
जलते हुए सवालों को पैदा किया गया ।''[40]

स्पष्ट है कि यहाँ के राजनयिक चरित्र भी भारतीय समाज के अभिन्न अंग बन कर अवतीर्ण हैं । प्रस्तुत ग़ज़ल साहित्य अंतर्विरोधी समाज को लेकर भी आविष्कृत हो रहा है जिसमें राजनयिक समाज भी अभिन्न अंग बन कर अंकित है ।

स्त्री-पुरुष की निगाहों से नारीवादी सोच -

पुरुषों और स्त्रियों के विचारों में नारीवाद और नारीवादी चिंतन को विवेच्य हिंदी ग़ज़ल साहित्य में भी पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली है । इससे बदलते भारतीय समाज का भी परिचय होने लगा है । जहीर कुरैशी की ग़ज़लों में इसके दर्शन होते हैं । इसमें एक ओर पुरुषों की निगाहों से नारीवादी औरत की छवी प्रस्तुत है तो दूसरी ओर स्त्रियों की निगाहों से नारीवादी औरत की । पुरुष की सोच है कि नारीवादी औरत 'वस्तु' नहीं, अब 'व्यक्ति' बनना चाहती है और पितृसत्ता को जड़ से मिटाना चाहती है । बकौल जहीर कुरैशी-

'' 'वस्तु' से 'व्यक्ति' बन कर दिखाने की जिद
पितृ-सत्ता को जड़ से मिटाने की जिद ।''[41]

नारीवादी पुरुषों की निगाहों से नारीवादी औरत अब तन की स्वायत्तता और मन की स्वाधीनता चाहती है । वह अपनी मर्जी से बिस्तर का चयन चाहती है, यौन क्षुधाओं की पूर्ति के लिए । वह कोशिश करती रही है अपनी देह पर अपना अधिकार पाने के लिए । इस संदर्भ में जहीर कुरैशी के अल्फाज हैं -

''तन की स्वायत्ता... मन की स्वाधीनता,
प्राप्त करते हुए 'घर' बचाने की जिद !
'मनु' की यौनिक क्षुधाओं की आपूर्ति को
अपनी मर्जी से बिस्तर पे जाने की जिद !
सैंकडों साल से यत्न करती रही
देह पर अपना अधिकार पाने की जिद !''[42]

असल में इसमें नारीवादी औरत की व्याख्या तो प्रस्तुत है ही किंतु इसमें पुरुषी मानसिकता और सोच पर व्यंग्य प्रहार है । जैसे नारीवादी पुरुष की मान्यता है 'औरत को लेकर' वैसे उसके बारे में नारीवादी स्त्रियों की भी अपनी सोच है ।

जैसे औरत काम-क्रीडाओं में बारंबार सहभागी होकर भी तृप्त नहीं होती, वह मर्द पर एकाधिकार की अनुभूति चाहती है किंतु प्रतिदिन उसके साथ सोकर भी उसे वह होती नहीं । 'नारीवादी स्त्रियों की सोच में औरत' ग़ज़ल में जहीर कुरैशी लिखते हैं-

''काम-क्रीड़ाओं में खोकर भी नहीं होती,
तृप्त बारंबार 'वो' कर भी नहीं होती !
. . . . . .
एक पुरुष-देह पर अधिकार की अनुभूति,
मर्द के संग रोज सो कर भी नहीं होती !''[43]

औरत का सही मनोविज्ञान जानना असल में आसान नहीं होता । वह तन और मन से आजाद भले ही होना चाहती हो या हो जाती हो, किंतु मूलत: वह वैसी नहीं होती । उपर्युक्त ग़ज़ल में जहीर कुरैशी के अल्फाजों में नारी बोल रही है-

''मैं समझती हूँ कि औरत देह से आजाद,
हो रही है, किंतु, होकर भी नहीं होती ।''[44]

स्पष्ट है कि भारतीय समाज में नारीवाद विगत कुछ वर्षों से जो जोरों पर रहा है उसके बारे में स्त्री-पुरुष, दोनों की अपनी-अपनी मान्यताएँ मिलती हैं, जिसमें

हमारा सामाजिक यथार्थ निहित है और उस पर व्यंग्य भी ।

द्वेष, दगाबाजी और नफरत के माहौल का दर्शन–

विवेच्य हिंदी ग़ज़ल अपने समय के समाज का साजा सच बोल देती है । उसमें वह सब है जो भारतीय समाज का अभिन्न अंग बन गया है । धोखेबाजी, दगाबाजी उसके एक–एक हिस्से–पुर्जे हैं । हमारे समाज के चरित्र इन सब से सम्पृक्त हैं । सय्यद मकबूल अली की मान्यता है–

''जमाने में कैसी फिज़ाँ बन गई है
वो घर में बुला के दगा दे रहे हैं ।''[45]

एक–दूसरे के प्रति अपनापन, भाईचारा, विश्वास अब गायब होता जा रहा है । उसका स्थान अब धोखाधड़ी ने लेना शुरू किया है । समाज के बीच आपसी प्यार का स्थान नफरत ले रही है । हिंदी ग़ज़ल इन सब को जानती है और बेबाकी से रेखांकित करती है । सय्यद मकबूल अली इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हैं–

''कहाँ पर थमेगा ये नफरत का आलम
ये 'मकबूल' कैसी हवा दे रहे हैं ।''[46]

स्वाधीन भारतीय समाज में जो धोखाधड़ी, नफरत और विद्वेष की आग है, वह जन सामान्य का जीना हराम कर चुकी है । सवाल यह नहीं कि लोग इससे बाहर क्यों नहीं आते ? सवाल यह है कि इससे बाहर कैसे आये और कहाँ जाएँ ? सारा माहौल जहाँ पत्थर बना हो, सत्तासीन जहाँ भेदा भेद और नफरत की आग परोस रहे हो, वहाँ का सामान्य नागरिक कहाँ पनाह ले सकता है ? इससे बचने का उसके पास क्या उपाय है? कमर खाँ 'वहम' सही लिखते हैं–

''पत्थर का नगर यारो सूरज की तपन भी है
जाएँ लो कहाँ जाएँ शीशे का बदन भी है ।''[47]

विवेच्य हिंदी ग़ज़लकार वर्तमान समय और समाज में स्थित दंभ, द्वेष, नफरत तथा बैर भाव को बखूबी जानता है । अत: उसकी अभिव्यक्ति में इनको पर्याप्त स्थान मिला है । अयूब शाहिदी जिंदगी के कटु सच का दर्शन इन शब्दों में कराते हैं –

''दम्भ, घृणा, ईर्ष्या, पाखण्ड, द्वेष और राग, बैर
किस तराजू में तुलेगी आजकल की जिंदगी ।''[48]

न केवल हमारा वर्तमान समाज इन चीजों से युक्त है बल्कि हमारा इतिहास भी इससे रहित नहीं है । इतिहास के पन्ने भी खून से ही रंगे हुए मिलते हैं । इस दारूण सच को लेकर अयूब शाहिदी की मान्यता है –

''कैसी इतिहास की किताबें हैं
इनमें तो रक्त ही रक्त है बाबा ।''[49]

हमारा इतिहास तथा उसके पन्ने भी खून से भरे हुए हैं और वर्तमान भी विद्वेष, घृणा और दगाबाजी से । विवेच्य हिंदी ग़ज़ल में इसकी अभिव्यक्ति अवश्य मिलती है ।

मूल्य एवं उसूल से भरे जीवन का संदेश –

वर्तमान मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल में जहाँ हमारे समाज में फैली घृणा, धर्मांधता, द्वेष और दगाबाजी आदि के दर्शन होते हैं वहाँ ग़ज़लगो उसूल, मूल्य, नैतिकता और प्रेम आदि का संदेश भी देता है । मानव समाज के सम्मुख वह आदर्श का संदेश भी देता है । वह नफरत और घृणा को त्यागने और सकारात्मक सोचने को प्रेरित करता है । वह बुराई से समझौता न करने का आवाहन करता है और अपना ईमान न बेचने का भी । बकौल शरीफ़ कुरैशी –

''जमाने की तरह अपना चलन बदला नहीं करते,
अंधेरों से उजाले कोई समझौता नहीं करते ।
तुम अच्छे हो अगर थोड़े गैरतमंद भी होते,
भरे बाजार ईमान को बेचा नहीं करते ।''[50]

भारतीय समाज में बढ़ती नफ़रत को देखते हुए हिंदी ग़ज़लकार हमें पेड़ का आदर्श सामने रखने का संदेश देता है । वृक्ष मनुष्य से बेहतर हैं क्योंकि वे हवा में नफरत घोल देने की अपेक्षा आक्सिजन भर देते हैं । हमें पेड़ का आदर्श सामने रखना होगा । बेहतर समाज के लिए यही उचित होगा । शरीफ़ कुरैशी लिखते हैं –

''दरख्तों की अगर पूछो तो इंसानों से बेहतर हैं,
हवा में नफरतों का जहर तो घोला नहीं करते ।''[51]

समाज से बचकर रहनेवालों के लिए भी वे संदेश देते हैं कि मनुष्य को सामाजिक होकर जीना चाहिए । जैसे–

''मज: जब है कि दुनिया में रहे दर्वेश की सूरत,
जो दुनिया से अलग जीते हैं वो अच्छा नहीं करते।''[52]

स्पष्ट है कि विवेच्य हिंदी ग़ज़लकार सकारात्मक भी सोचता है । वह मूल्य जीवी होने एवं सामाजिक जीवन जीने की हिमायत करता है । उसकी सकारात्मक सोच स्वस्थ भारतीय–समाज निर्माण में उपयोगी सिद्ध होगी इसमें संदेह नहीं ।

मानव समाज में अनेक प्रकार के जख्म मिलते हैं, जैसे– घृणा, द्वेष, दंगे–फसाद, दगाबाजी और धोखाबाजी आदि । किंतु इन सारे जख्मों पर दुआ फरमाने की बात भी विवेच्य ग़ज़लकारों की ग़ज़ल में मिलती है । युसुफ खान 'साहिल' सही फर्माते हैं –

''लबों से मेरे बस यही दुआ निकले,
इन जख्मों से मरहम सी दवा निकले ।''[53]

यह सही है कि जिंदगी उलझनों से भरी है किंतु उलझनों को सुलझाना नामुमकिन भी नहीं । यदि हम सकारात्मक सोचे, अपने जीवन में मूल्य एवं उसूल को स्थान दे तो निश्चय ही स्वस्थ जीवन नसीब होगा । बकौल जहीर कुरैशी –

''है बहुत मुश्किल, मगर, ये काम मुश्किल भी नहीं,
जिंदगी की उलझनों से पार पा सकते हैं लोग ।''[54]

कहना होगा कि विवेच्य ग़ज़लों में ग़ज़लकार लोगों को सफल जीवन का संदेश देता है, यह कहते हुए कि अगर हम ठान ले तो कोई काम कठिन या असंभव नहीं ।

अस्मत बचाने और जन्नत बनाने की तमन्ना का आवाहन –

यह सही है कि वर्तमान भारतीय समाज में और सभी धर्मों में इन्सान तथा इन्सानियत की अस्मिता को तिलांजलि दी जा रही है । धार्मिक उन्माद ने इन्सान को गौण स्थान दिया है और धर्म को सर्वोपरि माना है । हिंदी ग़ज़लकार के लिए यह चिंता का विषय बना है । वह चाहता है कि अब ऐसा नया मजहब बनाया जाए जिसमें इन्सान की अस्मिता बनी रहे । अजरा 'नूर' इसीलिए लिखती हैं–

''अब मजहब नया कोई बनाया जाए
इन्सान की अस्मत को बचाया जाए ।''[55]

हमेशा घृणा, नफरत और उपेक्षा की आग ने मानव और मानवता को जलाने का काम किया । इन्सान की अस्मत को बचाने का अब हमें परिचय देना ही होगा, वंचितों को अपनापन देकर, प्यार बाँटकर । इस संदर्भ में अजरा 'नूर' आवाहन करती है–

''वहशत की आग ने जिनको किया तन्हा
उन बच्चों को सीने से लगाया जाए ।''[56]

'जिनका अपना कोई नहीं, उनका खुदा होता है' की मान्यता के अनुसार विवेच्य हिंदी ग़ज़लकार अपनी तमन्ना का इज़हार करता है कि ऐसे लोगों पर खुदा की रहमत बनी रहे, इनायत बनी रहे । अजरा 'नूर' फर्माती हैं–

''इस जहाँ में कहीं जिनके अपने नहीं
उनके सर पे खुदा की इनायत रहे ।''[57]

स्पष्ट है कि इसमें इन्सान की अस्मत बचाने की तमन्ना है । फिर भी इन्सानियत के दुश्मन कम होने का नाम नहीं लेते । इस धरती को नरक बनानेवालों की तादाद बढ़ती जा रही है । ऐसी हालत में हमें धरती को स्वर्ग बनाने का प्रयास करना होगा । लोगों का दुख–दर्द कम कर उन्हें खुशहाली बहाल करने के लिए हमें अपने जीवन का कीमती समय देना होगा । खालिद हुसैन सिद्दीकी आवाहन करते हैं–

''छीन लो दर्द लाओ खुशहाली हर घर में 'खालिद'
लगा दो सारी उम्र जमीं पर जन्नत बनाने में ।''[58]

धरती को जन्नत बनाने की तमन्ना का इजहार कर मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकार ने अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह किया है । हर घर में खुशहाली का सपना देखने के लिए वह सारी जिंदगी दाँव पर लगाने का आवाहन भी करता है । अपनी अस्मत को बचाने

और जन्नत को बनाने की तमन्ना ही उसकी स्वस्थ सामाजिक दृष्टि तथा सामाजिक प्रतिबद्धता दर्शाती है।

निष्कर्ष –

मुस्लिम हिंदी ग़ज़लकारों की ग़ज़लों का अध्ययन करने के उपरांत निष्कर्ष के रूप में जो तथ्य सामने आते हैं वे इस प्रकार हैं –

1 मुस्लिम हिंदी ग़ज़ल के क्षेत्र में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या कम है ।

2 हिंदी ग़ज़ल को अब ग़ज़लगो ने इश्क–मुहोब्बत, महबूब और महबूबा तक सीमित न रख हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ग़ज़ल को भी सामयिक एवं सामाजिक सरोकार से जोड़ दिया है।

3 वर्तमान हिंदी ग़ज़लकार अपने दायित्व का निर्वाह ईमानदारी से कर रहा है ।

4 समाज विरोधी तत्वों पर (मुस्लिम) हिंदी ग़ज़लकार टूट पड़ रहा है ।

5 अपने युग की विद्रूपताओं पर प्रहार और असामाजिक तत्वों का संहार हिंदी ग़ज़ल में बारंबार लक्षित हो रहा है ।

6 अब हिंदी ग़ज़ल में केंद्रीयभाव शृंगार नहीं बल्कि मानव संवेदना है ।

7 ग़ज़ल के गणित अर्थात शिल्प से ज्यादा कथ्य के प्रति हिंदी ग़ज़लकार जागरूक नजर आता है ।

8 हिंदी ग़ज़ल का भविष्य उज्ज्वल है इसमें संदेह नहीं।

संदर्भ संकेत –

१. सं. विजयबहादुर सिंह – दुष्यंतकुमार रचनावली, खंड–२, पृष्ठ–२७२, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, २००५ ।
२. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ५१, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २००९।
३. वही, पृ. ५१ ।
४. वही, पृ. ५१ ।
५. वही, पृ. ५१ ।
६. वही, पृ. ६६ ।
७. वही, पृ. ६७ ।
८. सं. नमिता सिंह – 'वर्तमान साहित्य' मासिक पत्रिका, पृ. ५९, अगस्त, २०१३, अलीगढ़ ।
९. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ३८५, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २००९ ।
१०. वही, पृ. ४६३ ।
११. वही, पृ. ८२ ।
१२. वही, पृ. ८३ ।
१३. वही, पृ. ९९ ।
१४. वही, पृ. ९९ ।
१५. वही, पृ. ९९ ।
१६. सं. राजेंद्र यादव– 'हंस' मासिक पत्रिका, पृ. ८२, अगस्त, २०१२, नई दिल्ली ।
१७. सं. राजेंद्र यादव – 'हंस' मासिक पत्रिका, पृ. ३७, दिसंबर, २०१२, नई दिल्ली.

१८. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ११७, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २००९ ।
१९. वही, पृ. ११६ ।
२०. वही, पृ. ११६ ।
२१. वही, पृ. ३४३ ।
२२. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ११७, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, पृ. ३८५ ।
२३. वही, पृ. ३७९ ।
२४. वही, पृ. ३६० ।
२५. वही, पृ. ११७ ।
२६. वही, पृ. ११७ ।
२७. वही, पृ. ११७ ।
२८. वही, पृ. १९८ ।
२९. वही, पृ. १९९ ।
३०. वही, पृ. १९९ ।
३१. वही. पृ. १९९ ।
३२. वही, पृ. ३७३ ।
३३. वही, पृ. ३७३ ।
३४. वही, पृ. ४६३ ।
३५. वही, पृ. २१० ।
३६. वही, पृ. २१० ।
३७. वही, पृ. २२० ।
३८. वही, पृ. २२१ ।
३९. वही, पृ. २२१ ।
४०. वही, पृ. २२१ ।
४१. सं. जितेंद्र चौहान – 'गुंजन' त्रैमासिक पत्रिका, पृ. ७९, अप्रैल–जून, २०१३, इन्दौर (म. प्र.) ।
४२. वही, पृ. ७९ ।
४३. वही, पृ. ७९ ।
४४. वही, पृ. ७९ ।
४५. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ३११, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २००९ ।
४६. सं. दीक्षित दनकौरी – ग़ज़ल... दुष्यंत के बाद, पृ. ३११, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, पृ. ३११ ।
४७. वही, पृ. ३३१ ।
४८. वही, पृ. ३४२
४९. वही, पृ. ३४३

RESEARCH CHRONICLER

५०. सं. डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद' – 'कथाबिंब' त्रैमासिक, पृ. ४१, अप्रैल–जून, २०१३, मुंबई ।
५१. वही, पृ. ४१
५२. वही, पृ. ४१
५३. सं. डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद' – 'कथाबिंब' त्रैमासिक, पृ. ११, जुलाई–सितंबर, २०१२, मुंबई ।
५४. सं. नमिता सिंह – 'वर्तमान साहित्य' मासिक, पृ. १८, फरवरी, २०१३, अलीगढ़ ।
५५. सं. दीक्षित दनकौर – ग़ज़ल...दुष्यंत के बाद, पृ. ३७३, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, २००९।
५६. वही, पृ. ३७३ ।
५७. वही, पृ. ३७३ ।
५८. वही, पृ. ३७९ ।

RESEARCH CHRONICLER